International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology (IJIRSET)

|e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 7.569| A Monthly Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 10, Issue 8, August 2021 ||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2021.1008197|

भारत में आदिवासी समाज -एक समाजशास्त्रीय बोध

अशोक कुमार

सह-आचार्य, समाजशास्त्र, राजकीय डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर, राजस्थान

सार

आज के आदिवासी भारत में पर-संस्कृति-प्रभावों की दृष्टि से आदिवासियों के चार प्रमुख वर्ग दीख पड़ते हैं। प्रथम वर्ग में पर-संस्कृति-प्रभावहीन समूह हैं, दूसरे में पर-संस्कृतियों द्वारा अल्पप्रभावित समूह, तीसरे में पर-संस्कृतियों द्वारा प्रभावित, किंतु स्वतंत्र सांस्कृतिक अस्तित्ववाले समूह और चौथे वर्ग में ऐसे आदिवासी समूह आते हैं जिन्होंने पर-संस्कृतियों का स्वीकरण इस मात्रा में कर लिया है कि अब वे केवल नाममात्र के लिए आदिवासी रह गए हैं।

आज भारत को हम विकासशील देश और निरंतर बढ़ती अर्थव्यवस्था की श्रेणी में मान लें लेकिन आदिवासी अब भी समाज की मुख्य धारा से कटे नजर आते हैं। देश में अभी भी आदिवासी दोयम दर्जे के नागरिक जैसा जीवनयापन कर रहे हैं। कुछ राज्य सरकारें आदिवासियों को लाभ पहुंचाने के लिए उनकी संस्कृति और जीवन शैली को समझे बिना ही योजना बना लेती हैं। ऐसी योजनाओं का आदिवासियों को लाभ नहीं होता, अलबत्ता योजना बनाने वाले जरूर फायदे में रहते हैं। महंगाई के चलते आज आदिवासी दैनिक उपयोग की वस्तुएं भी नहीं खरीद पा रहे हैं। वे कुपोषण के शिकार हो रहे हैं। अत: देश की करीब आठ फीसद आबादी (आदिवासियों की) पर विशेष ध्यान देना होगा। ऋणग्रस्तता, भूमि हस्तांतरण, गरीबी, बेरोजगारी, स्वास्थ्य, मदिरापान, शिक्षा, और संचार जैसी उनकी प्रमुख समस्याओं पर पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है।

भारतीय जनजातियों एवं आदिवासी समूहों का यदि हम इनकी भूभागीय भिन्नता के आधार पर विश्लेषण करें तो हम पाएंगे कि इनका प्रवासन अथवा देशांतरण दुनिया के विभिन्न स्थानों से विभिन्न कालखंडों में होता रहा है। प्रजातीय दृष्टि से इन समूहों में नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलायड और मंगोलायड तत्व मुख्यत: पाए जाते हैं, यद्यपि कतिपय नृतत्ववेत्ताओं ने नीग्रिटो तत्व के संबंध में शंकाएं उपस्थित की हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से उन्हें आस्ट्रो-एशियाई, द्रविड़ और तिब्बती-चीनी-परिवारों की भाषाएं बोलने वाले समूहों में विभाजित किया जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत का विभाजन चार प्रमुख क्षेत्रों में किया जा सकता है : उत्तरपूर्वीय क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र।

उत्तर पूर्वीय क्षेत्र के अंतर्गत हिमालय अंचल के अतिरिक्त तीस्ता उपत्यका और ब्रह्मपुत्र की यमुना-पद्मा-शाखा के पूर्वी भाग का पहाड़ी प्रदेश आता है। इस भाग के आदिवासी समूहों में गुरूंग, लिंबू, लेपचा, आका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपी, मिकिर, राम, कवारी, गारो, खासी, नाग, कुकी, लुशाई, चकमा आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी ओर राजमहल पर्वतमाला के पश्चिमी भाग से लेकर दक्षिण की गोदावरी नदी तक है। संथाल, मुंडा, माहली,उरांव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, जुआंग, खोंड, सवरा, गोंड, भील, बैगा, कोरकू, कमार आदि इस भाग के प्रमुख आदिवासी हैं।

पश्चिमी क्षेत्र में भील, मीणा, ठाकुर, कटकरी, टोकरे कोली, कोली महादेव, गोंड, कोलाम, हलबा, पावरा (महाराष्ट्र)आदि प्रमुख आदिवासी जनजातियां निवास करती हैं। मध्य पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण में सह्याद्रि तक का पश्चिमी प्रदेश इस क्षेत्र में आता है। गोदावरी के दक्षिण से कन्याकुमारी तक दक्षिणी क्षेत्र का विस्तार है। इस भाग में जो आदिवासी समूह रहते हैं उनमें चेंचू, कोंडा, रेड्डी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरूंबा, बडागा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, उराली, कनिक्कर आदि उल्लेखनीय हैं।

परिचय

नृतत्ववेत्ताओं ने इन समूहों में से अनेक का विशद शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन किया है। इस अध्ययन के आधार पर भौतिक संस्कृति तथा जीवनयापन के साधन सामाजिक संगठन, धर्म, बाह्य संस्कृति, प्रभाव आदि की दृष्टि से आदिवासी भारत के विभिन्न वर्गीकरण करने के अनेक वैज्ञानिक प्रयत्न किए गए हैं।[1]

|e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 7.569| A Monthly Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 10, Issue 8, August 2021 ||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2021.1008197|

भारतीय समाजशास्त्री भलीभांति यह जानते हैं कि भारत में हजारों वर्ष पूर्व आदिवासी समुदाय ने ही जंगल, पहाड़ एवं पहाड़ की कन्दराओं और गुफाओं में आश्रय लेने के उपरांत जंगलों को साफ कर खेती करना सीखा, बनैले पशुओं को पालतू बनाया और एक स्थायी सामाजिक जीवन की शुरुआत की। प्रथम भारतीय ग्रामीण सभ्यता की नींव डालने वाले आदिवासी समुदाय ही थे। यही कारण है कि भारत का आदिवासी समुदाय अपने जल जंगल और जमीन से पृथक नहीं रह पाए। भारत के उत्तर पूर्वी राज्य, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, झारखंड बिहार, ओडिशा, छतीसगढ़ एवं बंगाल आदि राज्यों मे कई आदिवासी समुदायों ने अपनी भाषा संस्कृति और सामाजिक परम्पराओं का विकास किया।[2]

यद्यपि प्राचीन काल में आदिवासियों ने भारतीय परंपरा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था और उनके कतिपय रीति रिवाज और विश्वास आज भी थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में आधुनिक हिंदू समाज में देखे जा सकते हैं, तथापि यह निश्चित है कि वे बहुत पहले ही भारतीय समाज और संस्कृति के विकास की प्रमुख धारा से पृथक हो गए थे। आदिवासी समूह हिंदू समाज से न केवल अनेक महत्वपूर्ण पक्षों में भिन्न है, वरन् उनके इन समूहों में भी कई महत्वपूर्ण अंतर हैं। समसामयिक आर्थिक शक्तियों तथा सामाजिक प्रभावों के कारण भारतीय समाज के इन विभिन्न अंगों की दूरी अब क्रमशः कम हो रही है।

आदिवासियों की सांस्कृतिक भिन्नता को बनाए रखने में कई कारणों का योग रहा है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर उनमें से अनेक में प्रबल 'जनजाति-भावना' (ट्राइबल फीलिंग) है। सामाजिक-सांस्कृतिक-धरातल पर उनकी संस्कृतियों के गठन में केंद्रीय महत्व है। असम के नागा आदिवासियों की नरमुंडप्राप्ति प्रथा बस्तर के मुरियों की घोटुल संस्था, टोडा समूह में बहुपतित्व, कोया समूह में गोबलि की प्रथा आदि का उन समूहों की संस्कृति में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु ये संस्थाएं और प्रथाएं भारतीय समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं हैं। आदिवासियों की संकलन-आखेटक-अर्थव्यवस्था तथा उससे कुछ अधिक विकसित अस्थिर और स्थिर कृषि की अर्थव्यवस्थाएं अभी भी परंपरा स्वीकृत प्रणाली द्वारा लाई जाती हैं। परंपरा का प्रभाव उनपर नए आर्थिक मूल्यों के प्रभाव की अपेक्षा अधिक है। धर्म के क्षेत्र में जीववाद, जीविवाद, पितृपूजा आदि हिंदू धर्म के समीप लाकर भी उन्हें भिन्न रखते हैं।[3]

आज के आदिवासी भारत में पर-संस्कृति-प्रभावों की दृष्टि से आदिवासियों के चार प्रमुख वर्ग दीख पड़ते हैं। प्रथम वर्ग में पर-संस्कृति-प्रभावहीन समूह हैं, दूसरे में पर-संस्कृतियों द्वारा अल्पप्रभावित समूह, तीसरे में पर-संस्कृतियों द्वारा प्रभावित, किंतु स्वतंत्र सांस्कृतिक अस्तित्ववाले समूह और चौथे वर्ग में ऐसे आदिवासी समूह आते हैं जिन्होंने पर-संस्कृतियों का स्वीकरण इस मात्रा में कर लिया है कि अब वे केवल नाममात्र के लिए आदिवासी रह गए हैं।[4] हजारों वर्षों से शोषित रहे इस समाज के लिए परिस्थितियां आज भी कष्टप्रद और समस्याएं बहुत अधिक हैं। ये समस्याएं प्राकृतिक तो होती ही है साथ ही यह मानवजनित भी होती है। विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों की समस्या थोड़ी बहुत अलग हो सकती है किन्तु बहुत हद तक यह एक समान ही होती है।[5]

"आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति हमारे तथाकथित सुसंस्कृत समाज का रवैया क्या है? वो चाहे सैलानी – पत्रकार लेखक हों या समाजशास्त्री, आम तौर पर सबकी एक ही मिलीजुली कोशिश इस बात को खोज निकलने की रही है कि आदिवासियों में अदभुत और विलक्षण क्या है? उनके जीवन और व्यवहार में आश्चर्य और तमाशे के लायक चीजों की तलाश और हमसे बेमेल और पराए पहलुओं को इकहरे तरीके से रोशन करने लोगों का ध्यान आकर्षित करने और मनोरंजन के लिए ही लोग आदिवासी समाज और सुसंस्कृति की ओर जाते रहे हैं। नतीजा हमारे सामने है : उनके यौन जीवन और रीति- रीवाजों के बारे में गुदगुदाने वाले सनसनीखेज ब्योरे तो खूब मिलते हैं, पर उनके पारिवारिक जीवन की मानवीय व्यथा नहीं। उनके अलौकिक विश्वास, जादू – टोने और विलक्षण अनूष्ठानों का आँखों देख हाल तो मिलता है, उनकी जिंदगी के हर सिम्त हाड़तोड़ संघर्ष की बहुरूपी और प्रमाणिक तस्वीर नहीं। वे आज भी आदमी की अलग नस्ल के रूप में अजूबा की तरह पेश किए जाते हैं। विचित्र वेशभूषा में आदिम और जंगली आदमी की मानिंद।"[6]

विचार-विमर्श

जनजातियों की सांस्कृतिक परम्परा और समाज – संस्कृति पर विचार की एक दिशा यहाँ से भी विचारणीय मानी जा सकती है। मानव विज्ञानियों और समाजशास्त्र के अध्येताओं ने विभिन्न जनजातीय समुदायों का सर्वेक्षण मूलक व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है और उसके आधार पर विभिन्न जनजातीयों के विषय में सूचनाओं के विशद कोष हमें सुलभ है।[7] पुन: इस अकूत शोध- सामग्री के आधार पर विभिन्न जनजातीय समूहों और समाजों के बारे में निष्कर्षमूलक समानताओं का निर्देश भी किया जा सकता है। लेकिन ऐसे अध्ययन का संकट तब खड़ा हो जाता है जब हम ज्ञान को ज्ञान के लिए नहीं मानकर उसकी सामाजिक संगति की तलाश खोजना शुरू करते हैं। ये सारी सूचनाएं हमें एक अनचिन्हीं- अनजानी दुनिया से हमारा साक्षात्कार कराती हैं, किन्तु इस ज्ञान का संयोजन भारतीय समाज में उनके सामंजस्यपूर्ण समायोजन के लिए किस प्रकार किया जाए, यह प्रश्न अन्य दुसरे सवालों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यहाँ समाज – चिंतन की हमारी दृष्टि और उसके कोण की वास्तविक परीक्षा भी शुरू हो जाती है। ठीक यहीं से सूचनाओं का विश्लेष्ण – विवेचना चुनौती बनकर खड़े हो जाते हैं।[8]

|e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 7.569| A Monthly Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 10, Issue 8, August 2021 ||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2021.1008197|

किसी भी समाज का अतीत बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। तो भी शुद्ध अतीतजीवी होने की भी कोई तार्किकता नहीं हो सकती है। जनजातियों के संदर्भ में विचार करें तो यह सवाल और नुकीला हो जाता है कि क्या उन्हें आदिम मानव- सभ्यता के पूरात्तात्विक पुरावशेष के रूप में पुरातन जीवन- स्थिति में ही अलग थलग छोड़ दिया जाए या विज्ञान और तकनीकी प्रगति की आधुनिक व्यवस्था में समायोजित होने का अवसर भी दिया जाए? सवाल तो यह भी उतना है महत्त्वपूर्ण है कि क्या उनके विकास के नाम उन्हें आधुनिक जटिल राज्य तंत्र और समाज – व्यवस्था के सामने टूटकर विखरने के लिए छोड़ दिया जाए या उन्हें नए परिवेश में सहज गतिशील होने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाए?[9]

आज जब औद्योगिक विकास के लिए खनिज सम्पदा और जंगल-पहाड़ के इलाके राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के लिए अनिवार्यतः उपयोगी माने जा रहे हैं और ये सारी सहूलियतें इन्हीं आदिवासी अंचलों में सुलभ हैं तो क्या क्षेत्रीय या राष्ट्रीय हितों के लिए 10 प्रतिशत आदिवासियों को विस्थापित कर उनकी अपनी जीवन शैली, समाज- संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों में बलात वंचित कर किया जाए? यानी आज यह सर्वोपरी आवश्यकता दिख रही है कि विकास की मौजूदा अवधारणा की एक बार फिर समीक्षा की जाए और नई आधुनिक व्यवस्था में जनजातीय समूहों के मानवीय अधिकारों की समुचित अभिरक्षा की जाए। तभी जजतीय संस्कृति या उसकी परंपरा के विषय में हमारी चिंता को एक वास्तविक आधार सुलभ होगा।

“आदिवासियों के आख्यान उनके मिथक, उनकी परम्पराएँ आज इसलिए महत्त्व्पूत्न नहीं हैं कि वे बीते युगों की कहानी कहती हैं, बल्कि उनकी अपनी संस्थाओं और संस्कृति के एतिहासिक तर्क और बौद्धिक प्रसंगिकता के लिहाज से भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, सौन्दर्यात्मक चेष्टाएँ और अनूष्ठानिक क्रियायें हमारी – आपकी कला- संस्कृति की तरह आराम के क्षणों को भरने वाली चीजों नहीं हैं, उनकी पूरी जिन्दगी से उनका एक क्रियाशील, प्रयोजनशील और पारस्परिक रिश्ता है, इसीलिए उनकी संस्कृति एक ऐसी अन्विति के रूप में आकार ग्रहण करती है जिनमें उनके जीवन और यथार्थ की पूनार्चना होती हैं”।[10]

परिणाम

सांस्कृतिक परम्परा पर विचार करने से पहले यह परिभाषित कर लेना उचित प्रतीत होता है कि संस्कृति क्या है? संस्कृति कर लेना उचित प्रतीत होता है कि संस्कृति और लोकतंत्र में क्या अंतर है: जनजातीय संस्कृति और लोकसंस्कृति में भी कोई अंतर है या नहीं? विविध प्रकार की जीवन-शैलियों और सामाजिक परमपराओं में संस्कृति के जो स्थानिक और देशिक रूप दिखलाई पड़ते हैं, उनके वर्गीकरण और एकीकरण के क्या आधार हो सकते हैं। संस्कृति की जो व्याख्या मानवशास्त्री देते हैं वह स्वयं संस्कृतिकर्मियों के लिए कितना अर्थपूर्ण है?[11]

संस्कृति का सीधा- सादा अर्थ है परिष्कार या संस्कार। वस्तुतः परिमार्जित संस्कार ही संस्कृति है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. राम खेलावन पाण्डेय ने लिखा है कि” संस्कृति शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और अंग्रजी कल्चर का समनार्थसूचक। इसके संबंध की मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद और विरोध हैं इसकी संबंध की मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद और विरोध हैं इसकी सीमाएँ तक ओर धर्म का स्पर्श करती हैं तो दूसरी ओर साहित्य को अपने बाहूपाश में आबद्ध करती हैं। संस्कृति भौतिक साधनों के संचयन के साथ ही अध्यात्मिकता की गरिमा से मंडित होती है। वेश- भूषा, परंपरा, पूजा-विधान और सामाजिक रीति – विधान और सामाजिक रीति- नीति की विवेचना भी संस्कृति के अंतर्गत होती है। .... प्रकृति की सीमाओं पर मनुष्य ने जो विजय चाही, उसका भौतिक स्वरूप सभ्यता, और आत्मिक, अध्यात्मिक अथवा मानसिक स्वरूप संस्कृति है। सभ्यता बाह्य- प्रकृति पर हमारी विजय का गर्वध्वज है और संस्कृति अंत: प्रकृति पर विजय-प्राप्ति की सिद्धि।”[12]

संस्कृति की ऐसी परिभाषाएँ अनेक विद्वानों ने उपलब्ध कराई हैं जिनमें उसके इस व उस पक्ष या कई पक्षों का समन्वय स्थापित करें के चेष्टाएँ झलकती हैं। किन्तु ऐसी परिभाषाएँ संस्कृति का खंडित अध्ययन करती हैं जबकि पिछली दो शताब्दियों में ज्ञान के विविध क्षेत्रों में कई नई परिभाषाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें एक यह भी है कि मनुष्य संस्कृति निर्माता प्राणी है। संस्कृति की व्याख्या न तो केवल अनुवांशिक जैविकता के आधार पर की जा सकती है, न सिर्फ सामाजिकता के आधार पर। इसी तरह उसे सभ्यता के अलग-अलग खानों में बाँटकर भी नहीं समझा जा सकता।

टायलर ने संस्कृति की जो व्यापक संकल्पना प्रस्तावित की है, उसमें कई मतभेदों का समाहार देखा जा सकता है। टायलर के आनुसर संस्कृति “वह जटिल ईकाई है जिसके अंतर्गत और अभ्यास सम्मिलित हैं जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में अर्जित करता है।” इस तरह टायलर ने यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृति सामाजिक परंपरा से अर्जित चिंतन, अनुभव और व्यवहार – मानसिक और क्रियात्मक व्यवहार की समस्त रीतियों की समष्टि है।[13] यही संकल्पना परवर्ती मानव वैज्ञानिकों की कार्यप्रणाली का आधार बनी है। मैलिनोव्सकी की परिभाषा भी इससे मिलती जुलती है कि “संस्कृति के अंतर्गत वंशगत शिल्प- तथ्यों, वस्तुओं, तकनीकी प्रक्रियाओं, धारणाओं, अभ्यासों तथा मूल्यों का समावेश हो जाता है।” यही बात लिंटन, क्लकहॉन, क्रोबर आदि की परिभाषाओं में भी व्यक्त होती है।

वस्तुत: संस्कृति विषयक, चिंतन का क्षेत्र विभिन्न मतवादों से भरापूरा क्षेत्र है। मतान्तरों की परीक्षा का स्वतंत्र अध्ययन इस पुस्तक की सीमाओं में अभीष्ट नहीं है। इस संबंध में डॉ. दिनेश्वर प्रसाद की पुस्तक लोक साहित्य में इस विषय के विस्तार में जाकर विवेचन सुलभ और द्रष्टब्या है।

|e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 7.569| A Monthly Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 10, Issue 8, August 2021 ||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2021.1008197|

निष्पत्ति के रूप में यह कहा जा सकता है कि " विभिन्न संस्कृतियों की तुलनात्मक सांख्यिकी यह बतलाती है कि मानव जातियों एक ही वास्तविकता का मूल्यांकन अलग – अलग रूपों में करती हैं। सुन्दर और कुरूप , शिव और अशिव, सार्थक और निरर्थक आदि धारणाओं और मूल्यों के संबंध में उनमें पर्याप्त मतभेद हैं। ..... भारतीय दस दिशाओं की कल्पना करते छह की। यूरोप में लाल रंग शोक का प्रतिक है' किन्तु प्लेन्स इंडियनों में विजय और उल्लास का। चीन में श्वेत रंग शोक का प्रतीक है जबकि चेरोकी जाति में दक्षिण दिशा का। भिन्नता की यह स्थिति कला संबंधी धारणाओं से लेकर में राग और लय दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन बहूत सीअफ्रीकी संस्कृति एकापत्नित्व को आदर्श मानती है और इस्लामी संस्कृति बहूपत्नित्व को, जबकि भारत की कुछ जातियों में बहूपत्नित्व आदर्श भी है व्यवहार भी। इस तरह प्रतिमानों की सार्थकता स्थानीय या क्षेत्रीय होती है और उसके संबंध में हर संस्कृति के अपने तर्क होते हैं जिन्हें वह अकाट्य मानती है।"[14]

संस्कृति के अध्येताओं के लिए सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के अनेक अभिप्राय हो जाते हैं। इसी तर्क के आधार पर यह माना जाता है कि न तो किसी संस्कृति को श्रेष्ठ कहा जा सकता है और न हीन, न तो महत्त्वपूर्ण और न महत्त्वरहित। जब हम कुछ जातियों को आदिम कहते हैं तो संभवत: हमारा अभिप्राय यही होता है कि वे हमारे समकालीन जीवन की पूर्ववर्ती स्थिती के उदारहण हैं। लेकिन यह धारणा भी तथ्याधारित नहीं ठहरती। वस्तुत: विश्व के मानचित्र पर अलग-अलग भौगोलिक परिवेश में इतनी किस्म की संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, रही हैं की कहना पड़ता है कि हर समाज की संस्कृति उसका सांचा है और सामान्य संस्कृति के लक्षणों के निर्धारण में किसी भी एक संस्कृति का सांचा सम्पूर्ण नहीं हो पाता।

झारखण्ड सांस्कृतिक क्षेत्र का एक भाग भी कहा जाता रहा है, सांस्कृतिक दृष्टि से एक समृद्ध अतीत और वर्त्तमान का क्षेत्र है। अगर आपकी दृष्टि सिर्फ एक पर्यटक की दृष्टि नहीं है और उस पर औद्योगिक विकास के आंकड़े पढ़ने वाला चश्मा हो, तब आप झारखंडी संस्कृति की विशिष्ट पहचान से साक्षात्कार कर सकते हैं। यह क्षेत्र और यहाँ की मूलवासी जातियाँ जिनमें जनजातियाँ और सदानी समुदायों की साझेदारी है, सदियों से एक समरस और समतावादी समाज बनाकर रहते आए हैं।

यह इतिहास लगभग दो हजार साल पुराना इतिहास है जब सदानी जातियों की मूल जाती नागवंशियों ने छोटानागपुर में राज्य बनाया था। खुखर राज्य के पहले राजा नागवंशी फणीमुकूट राय थे जिन्होंने मुंडाओं के सहयोग से राज्य की स्थापना की थी। नाग जाति के बारे में अभी तक पर्याप्त शोध नहीं हुए हैं किन्तु डॉ. अम्बेडकर, डॉ. कुमार सुरेश सिंह, डॉ. बी.पी. केशरी तथा कई अन्य विद्वानों ने जो प्रमाण और साक्ष्य जुटाए हैं वे नाग जाति के इतिहास के अस्तित्व को स्पष्ट स्थापित करते हैं। नाग जाति बहुत सुसंस्कृत, बहादुर और शांतिप्रिय जाति रही हैं इस जाति ने गौतम बुद्ध के नेतृत्व में सैकड़ों वर्षों तक ब्राह्मण धर्म के जातिभेद और छुआ – छूत के खिलाफ संघर्ष किया था। हिन्दूओं ने अपने बहुत से पर्व – त्योहार इस जाती के संस्कृति से लिए हैं प्रसिद्ध राजा शशांक इसी नाग जाति के थे।[15]

सदानी जातियों के समानांतर इस क्षेत्र जनजातीय समाज और उसकी संस्कृति भी बहुत पुरानी है। मुंडा जनजाति के भूमिज लोगों ने सिंहभूम- वराहभूम के इलाके में भूमिज राज कायम किया था।" छोटानागपुर में पाए जाने वाले अनेक असुर स्थलों पर प्राप्त पुरातात्त्विक वस्तुओं के आधार पर यह कहा जाता है की सांस्कृतिक दृष्टि से छोटानागपुर उतना ही प्राचीन है, जितनी सिन्धु घाटी की सभ्यता। फिर भी साधारणत: बिहार का और विशेषकर छोटानागपुर का प्रारंम्भिक सांस्कृतिक इतिहास रहस्य के आवरण में ढंका हुआ। इसलिए इस क्षेत्र का इतिहास मुख्यत: वैदिक पौराणिक, जैन तथा बौद्ध साहित्य के छिटपुट अवलोकन, पुरातात्त्विक वस्तुओं के अध्ययन एवं क्षेत्रीय लोकसाहित्य और दंतकथाओं के विश्लेष्ण के आधार पर ही तैयार किया जा सकता है।.... ऐसा अनुमान किया जाता है कि मुंडा लोग इस क्षेत्र में ईसाई युग शुरू होने से पहले ही आकर बसने लगे होंगे। असुर संस्कृति के बारे मे यह कहा जा सकता है कि यह संस्कृति कम-से- कम कुषाण काल तक (लगभग 70 से 150 ई. सन) तो थी ही जैसा कि दो असुर स्थलों पर पाए जाने वाले कुषाण सिक्कों से पता चलता है। ऐसा मन जाता है कि असुर लोग भगवान शिव के बड़े भक्त थे तथा शिव लिंग की पूजा करते थे।"[16]

"मानव वैज्ञानिक का एक समुदाय भारत को जनजातीय और गैरजनजातीय सांस्कृतियों के विलगाव और असम्बद्धता पर इतना अधिक बल देता रहा है कि आज हम उनको एकदम भिन्न मानने लगे हैं। लेकिन ऐतिहासिक संदर्भ में विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उतनी भिन्न और असम्बद्ध नहीं हैं जितनी समझी और समझायी जाती हैं। बहुत सी जनजातियाँ हिन्दू समाज की जातियों में बदल गई हैं और बहुत सारी सांस्कृतिक विशेषताएँ उसकी सामान्य संस्कृति के अभिलक्षण बन गई हैं। जहाँ उनका स्थानांतरण जातियों में नहीं हुआ है, वहाँ भी गैरजनजातियों समुदायों से उनका सम्पर्क बना रहा है। यह जरूरी नहीं कि जो जनजातियाँ आज गैरजनजातियों साथ या समीप न रहकर उनसे दूर और अलग रही हैं, वे अतीत में उनके साथ या निकट नहीं रहती थीं।

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार वे बहुत – से भारतीय प्रदेशों में शताब्दियों से लगभग एक परिमती भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती रही हैं तो भारत के एक सीमांत से दुसरे सीमांत तक उनका आव्रजन ही हुआ है। प्रत्येक स्थिति में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बाध्यताओं के कारण, वे गैरजनजातीय समुदायों के सम्पर्क में आती रही हैं। यही नहीं उनका एक उल्लेख भाग गैरजनजातीय लोगों के साथ गांवों में निवास करता रहा है। इतिहास के विभिन्न कालों में आपसी संपर्कों से लेकर सन्निकटता और रक्त मिश्रण जैसी स्थितियों के कारण उन्होंने भारतीय संस्कृति के नाम से जानी जाने वाल संस्कृति का निर्माण और विकास ग=किया है।"[17]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि झारखण्ड की जनजातीय संस्कृति और गैर जनजातीय सदानी संस्कृति के बीच परस्पर आदान-प्रदान का सिलसिला पुराना है। इसकी जाँच के आधार के रूप में भाषा का उपयोग जिन विद्वानों ने किया है, उनमें डॉ.

|e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 7.569| A Monthly Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 10, Issue 8, August 2021 ||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2021.1008197|

कायपर, प्रोपिजूलिस्की, डॉ. प्रबोधचंद्र बागची, प्रो.सिलवां लेवी और डॉ. दिनेश्वर प्रसाद के अध्ययन से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि संस्कृतिक संबंद्धता का इतिहास उतना ही पुराना है जितना इस दुर्गम क्षेत्र में मानव-विकास।

इस संस्कृतिक सम्बद्धता की सदियों पुरानी परंपरा को डॉ. वीर भगत तलवार जैसे विद्वान झारखंडी बनाम ब्राह्मणवादी संस्कृति की संघर्ष यात्रा के रूप में विवेचित करते हैं। उन्होंने यह बताने की कोशिश की है। झारखण्ड की समतावादी संस्कृति और भेदवादी ब्रह्मण वादी संस्कृति एक दुसरे की विरोधी हैं। कालान्तर में जो संस्कृतिक प्रदूषण इस क्षेत्र की अनार्य संस्कृति में फैला है, वह ब्राह्मणवादी संस्कृति के हस्तक्षेप के कारण ही। उनका माना है की झारखंडी जातियों के ब्राह्मणीकरण की शूरूआत असल में झारखण्ड में सामन्ती राज्य सत्ताओं के उदय के बाद से हुई। अपने कथन के लिए साक्ष्य जुटाते हुए डॉ. तलवार, डॉ. कुमार सुरेश सिंह के चेरो लोगों पर किए गए शोध अध्ययन का हवाला देते हैं जिसमें जिसमें दिखलाया गया है कि झारखण्ड में विभिन्न सामन्ती राज्य कायम हुए तो उनके राजपरिवार ही, जो बाकी जनता पर अपनी श्रेष्ठता को साबित करना चाहते थे, ब्राह्मणवादी संस्कृति को लाने के माध्यम बने। एक ही कबीले के शेष लोगों से खुद को ऊंचा घोषित करने के लिए अपना संबंध ब्राह्मणवाद से जोड़ा। इस काम के लिए ब्राह्मणवाद ही सबसे उपयोगी व्यवस्था थी क्योंकी यह सिर्फ ब्राह्मणवाद ही है जो समान लोगों के बीच ऊँच–नीच की धारणा को पैदा करता है और उस भेद को कायम करने के लिए धर्म का पवित्र आधार पेश करता है। डॉ. कुमार सुरेश सिंह इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण कहते है।[18]

डॉ. तलवार पूछते हैं- "और इस संस्कृतिककरण का नतीजा क्या निकला? सदान कबीला दो भागों में बंट गया। राजपरिवार से जुड़े सदान ब्रह्माणवादी संस्कृति के एंजेंट बने और अपने को बाकी सदानों से श्रेष्ठ समझने लगे तथा राजपरिवार द्वारा शासित होने वाले अशिक्षित, निर्धन और गरीब सदान जो आदिवासियों से भी अधिक खराब अवस्था में रहते हैं। सदान जब झारखण्ड में आए थे तब एक कबीला थे, उनमें जाति - प्रथा नहीं थी। ब्राह्मणवाद ने उनके अंदर जाति-प्रथा पैदा की और कुछ को ब्राह्मण, कुछ को क्षत्रिय, कायस्थ, वैश्य और बाकी को शूद्र घोषित कर दिया। वराहभूम में सामन्ती राज खड़ा करने वाले भूमिज दो भागों में बंट गए – राजपरिवार से जुड़े सरदार भूमिज और बाकी मामूली भूमिज।"

अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छोटानागपुर की संस्कृति, जिसे झारखंडी संस्कृति की पहचान और नाम भी दिया जाता है, एक पुरानी संस्कृति है। उसे इस भौगिलिक क्षेत्र में आर्य मूल के नागवंशी सदान जातियों और मुंडकुल के जनजातीय समुदायों ने मिल-जुलकर श्रम प्रधान समतावादी जातिचेतना से रहित संस्कृति के रूप में विकसित किया था। यों तो इस क्षेत्र की विशिष्ट संस्कृति शेष भारतीय संस्कृति के जीवन सम्पर्को में आती रही और दोनों पक्षों ने एक-दुसरे के संस्कारों को आदान - प्रदान के स्तर पर प्रभावित भी किया, किन्तु मध्य काल में मुस्लिम शासन की अवधि में सामन्ती राजसत्ताओं के स्थापित होने के बाद इस क्षेत्र के संस्कृति जीवन में बाहरी आबादी का आवागमन बढ़ने के साथ संस्कृतिकरण का एक नया दौर शुरू हुआ।[19]

निष्कर्ष

छोटानागपुर या झारखण्ड के सांस्कृतिक परिवर्तनों के पिछले पांच सौ वर्षों का इतिहास व्यापक उलट-फेर का काल रहा है और उसने झारखंडी संस्कृति की बुनियादी पहचान को कई स्तरों पर तोड़ा और मोड़ा हैं। इसी दौर में पुराने समाज-संगठन ढीले पड़े और मुस्लिम और ईसाई जोवन – दृष्टियों से उसका परिचय हुआ। इसलिए यह कहना इतिहास सम्मत होगा कि अपने प्रारंभिक उद्भावकाल में इस क्षेत्रीय संस्कृति में हिन्दू समाज- संस्कृति की कई विकृतियाँ और संस्कार जुड़े, किन्तु इससे ज्यादा बड़े पैमाने पर संस्कृति- संकरता के आक्रमण मुस्लिम और अंग्रेज शासन – काल में दिखाई पड़ते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख अत्यंत महत्त्व का है कि आज के क्षेत्र की दो प्रमुख जनजातियों का प्रवेश इस क्षेत्र में इसी अवधि में हुआ है। ये जनजातीय समुदाय संताल और उराँव कबीलों के हैं जो मुंडाओं और सदानों के बाद उत्तर मध्यकाल और पूर्व आधुनिककाल के बीच सबसे बड़े जनसांख्यिक समीकरण बनाने से सफल हुए। उरांवो और संतालों के आगमन से पूर्व झारखण्ड के ये क्षेत्र असुरों और पहाड़िया जनजातियों के प्रभुत्व में थे।[17]

भारत के इतिहास में सन 647 से 1200 ई. तक के काल को राजपूत काल भी कहा जाता है। छोटानागपुर राज पहली सदी में स्थापित हुआ माना गया है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद फणी मुकूट राय छोटानागपुर के प्रथम राजा हुए। सन 83 में 19 वर्ष की अवस्था में इन्हें शासन में बिठाया गया था। पश्चिम भार्म में तब कनिष्क का शासन (सन 78-102) था।

उरांवों के संबंध में यह कहा जाता है कि वे शेरशाह के रोहतास पर आक्रमण के बाद वहाँ से भागकर छोटानागपुर में आए। उनके रोहतास छोड़ने की तिथि 6 अप्रैल, 1538 बताई जाती है। इसे अगर आधार माना जाए तो उरांवों को छोटानागपुर में बसे लगभग साढ़े चार सौ वर्ष ही हुए हैं। इसी तरह छोटानागपुर में संतालों का आगमन अंग्रेजों के शासनकाल में ही संभव हुआ। आज जिसे संताल परगना क्षेत्र के नाम से जाना जाता है, उस क्षेत्र में संतालों का आगमन अभी सिर्फ दो सौ वर्षों पहले की बात है। इस क्षेत्र के निवासी पहाड़िया जनजाति के लोग हैं। ब्रिटिश साम्राज्य का शोषण एवं दमन जब बढ़ने लगा तब पहाड़िया लोगों ने विद्रोह किया। उस विद्रोह के दमन के लिए अंग्रेजों ने सन 1770 से 1790 के बीच संतालों का यहाँ लाकर बसाया था। इस प्रकार आज के झारखण्ड के क्षेत्र के दो बड़े जनजातीय समुदायों का इतिहास इस क्षेत्र के लिए अधिक पुराना नहीं है।[18]

छोटानागपुर की जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन की यह अवधि पुरानी पहचान के कारणों के नष्ट होने की दृष्टि से विशेष रूप से विचारणीय हो जाती है। रोहतास से राँची पहूंचकर भी उराँव संस्कृति भी नए दबावों में आकर कायाकल्प करने को विवश हुई।

|e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 7.569| A Monthly Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 10, Issue 8, August 2021 ||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2021.1008197|

ब्रिटिश कानूनों के तहत जनजातियों की सम्पत्तिविषयक आवधारणा का सम्पूर्ण क्षरण हुआ। उनकी समूदयिकता की भावना में पतनोन्मूख प्रवृत्तियाँ विकसित हुई और उनके खूंटकट्टी गांवों की भूमि- व्यवस्था भंग हो गई तथा उसकी जगह निजी स्वामित्व की सम्पत्तिविषयक आवधारणा का विकास हुआ। धर्मांतरण ने भी स्वयं इन समुदायों के धीरे – धीरे फैलते – बढ़ते-संगठित होते एक प्रभावशाली वर्ग को अपनी संस्कृति की मूल जड़ों से काटकर आधुनिकीकरण और अलगाव के खाते में दर्ज कर दिया। इस नई स्थिति के कारण जनजातियों के समाज- संगठन कमजोर हुए, सामाजिकता की भावना में ह्रास आया, अखरा- घुककुडिया की परंपरा अवरूद्ध हुई।[19]

संदर्भ

1) आदिवासी का धर्म कोनसा है
2) केरल के वायंड की एक आदिवासी कालोनी का वीडियो
3) उड़ीसा के आदिवासी
4) सरना - ए केस-स्टडी इन रीलिजन मुंडा आदिवासियों के धर्म पर एक आलेख
5) वनवासी कल्याण परिषद एक निजी संस्थान का जालघर
6) वनवासी कल्याण आश्रम आदिवासियों के लिए हिन्दू संस्थानों द्वारा चलाया जा रहा एक कार्यक्रम के बारे में
7) आदिवासी मुन्नेत्र संगल गुडालूर दक्षिण भारत के जंगलों में एक आदिवासी गाँव के आत्म-निर्भर होने की कथा
8) आदिवासी संयोजन समूह -जर्मनी में
9) पत्रिका इंडिया टुगेदर पर आदिवासियों का खास पृष्ठ
10) कामत डाट काम पर आदिवासियों की तस्वीरें
11) उड़ीसा के आदिवासियों के संगीत के बारे में एक जालस्थल पर
12) आदिवासी साहित्य यात्रा (गूगल पुस्तक ; लेखिका - रमणिका गुप्ता)
13) भारत में निवास करनेवाले आदिवासी समुदायों की राज्यवार सूची देखें।
14) भारत के आदिम आदिवासियों की राज्यवार सूची देखें।
15) भारत में राज्यवार आदिवासी आबादी का प्रतिशत देखें।
16) जोहार सहिया (आदिवासियों की लोकप्रिय मासिक पत्रिका नागपुरी-सादरी भाषा में)
17) जोहार दिसुम खबर (12 आदिवासी भाषाओं में प्रकाशित भारत का एकमात्र पाक्षिक अखबार)
18) अखड़ा (11 आदिवासी एवं क्षेत्रीय भाषाओं में प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका)
19) आदिवासी समाज (aadivasisamaj.com) - आदिवासी समाज की सामाजिक वेबसाईट